सकाम दैवी अनुष्ठान सम्बन्धी विचार

प्राकृतिक जगत् अनित्य, अपूर्ण और विनाशी है; अतएव दुःखालय है। प्राकृतिक वस्तुओं और स्थितियों में सुखकी खोज करना वास्तवमें मूर्खता ही है। यहाँ जो कुछ भी मनुष्य प्राप्त करता है वह स्थायी नहीं होता; अधूरा होता है और उसका वियोग अवश्यम्भावी है। यहाँ वास्तविक सुख उसीको मिलता है जो सारे जगत्को भगवान्में देखता है और भगवान्को जगत्में भरा देखता है। वही नित्य और पूर्ण परमानन्दस्वरूप भगवान देखता हुआ नित्य आनन्दमय बना रहता है । भगवान् ने कहा है-

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
(गीता ६ | ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता

है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

फिर यहाँ जो कुछ भी हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि भोगरूपमें प्राप्त होते हैं, वे सब प्रारब्धके ही फल हैं। **कर्म तीन प्रकारके होते हैं- क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध।** इस समय हम जो कुछ भी कर्म फलहेतुसे कर रहे हैं, उन्हें **'क्रियमाण'** कहते हैं । फलहैतुक कर्म सम्पन्न होते ही कर्मसंचयके भंडारमें चला जाता है । यह वर्तमानके पूर्वके किये हुए कर्मोंका, जिनका फल अभी नहीं भोगा जा चुका है, संग्रह ही **'संचित'** कहलाता है और इस संचितमेंसे कुछ अंश लेकर कर्म-जगत्का नियन्त्रण करनेवाली प्रभुशक्ति एक जन्मके लिये जो कुछ फलका निर्माण कर देती है, उसका नाम **प्रारब्ध** है। इस 'प्रारब्ध के अनुसार योनि, आयु और फल आदि पहलेसे ही निश्चित हो जाते हैं। अतएव जब, जो कुछ भी प्रारब्धवश फलरूपमें प्राप्त होना है, वह अवश्य होगा ही। उसमें निमित्त तीन हो सकते हैं **'स्वेच्छा', 'परेच्छा'** और '**अनिच्छा**'। किसी फलभोगके लिये कोई कर्म हमारी अपनी

इच्छासे बन जाय, यह " **'स्वेच्छाकृत फलभोग'** है; जैसे आगमें हाथ डालनेकी इच्छा होनेपर हाथ डालना और उसका जल जाना। किसी प्रारब्धका फल **'परेच्छा'**- दूसरेकी इच्छासे होता है। इसका रूप है- किसी दूसरेके मनमें हमारा अच्छाबुरा करनेकी इच्छा हो जाना और तदनुसार उस कर्मके सम्पन्न होनेपर हमें फल प्राप्त होना। जैसे- हमारे घरमें आग लगनेवाली हो, पर द्वेषवश दूसरा कोई इच्छा करके आग लगा दे । इसी प्रकार कुछ फल **'अनिच्छा'** से उत्पन्न होते हैं। जैसे- हम रास्तेमें चल रहे हैं। अकस्मात् किसी पेड़की डाल टूटकर हमपर गिर जाय और हमें चोट लग जाय । फलभोगमें प्रारब्धवश परतन्त्र होते हुए भी इन 'स्वेच्छा' और 'परेच्छा' कृत फलभोगों में हम अपनी भली-बुरी इच्छाके अनुसार क्रियमाण कर्म करके अपने लिये अच्छे-बुरे संचितका निर्माण करते हैं, जो भविष्यमें हमारे लिये सुख -दुःखका कारण बन सकता है क्योंकि संचित और प्रारब्धवश अच्छी-बुरी इच्छाओंके उदय होनेपर भी मनुष्यको भगवान्ने अच्छेबुरेकी पहचानके लिये विवेक, आदर्श शुभ कर्म करनेके लिये विधिनिषेधात्मक शास्त्रवाणी और

कर्म करनेका अधिकार दिया है। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' गीताका प्रसिद्ध वचन है। यदि हम शास्त्रकी अवहेलना करके मनमाना अनाचार - दुराचार करते हैं तो उसका फल दु:ख और सदाचार - सद्व्यवहार करते हैं तो उसका फल सुख भविष्यमें होगा ही। प्रारब्धका फल अवश्यमेव भोगना ही होगा; इसमें कोई संदेह नहीं। पर जो मनुष्य भगवान्‌के शरणागत होकर अपनेको सर्वतोभावेन भगवान्‌को समर्पित कर चुकते हैं अथवा जिन्हें तत्त्वज्ञानस्वरूप आत्मसाक्षात्कार हो जाता है, उनके शरीरमें प्रारब्धानुसार फलका उदय होनेपर भी उन्हें दु:ख-सुख नहीं होता; और सकामभाव न होनेसे नवीन कर्मफल प्रदान करनेवाले कर्म संचितमें वैसे ही नहीं जमा होते जैसे भुने हुए बीज खेतमें डालनेपर भी उनसे अंकुर नहीं निकलते । पूर्वके सारे संचित कर्म भगवान् की सहज कृपा अथवा **'ज्ञानाग्नि'** से सर्वथा भस्म हो जाते हैं । इस प्रकार वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है; तथापि शरीरसे प्रारब्धफलका भोग होता ही है। **यह 'कर्मसिद्धान्त' है।**

परंतु कुछ ऐसे 'प्रबल कर्म' भी होते हैं जैसे सकाम भगवदाराधन या देवाराधन, किसी कारणवश शाप या वरदान - जो तत्काल 'प्रारब्ध' बनकर फलदानोन्मुख प्रारब्धके फलको रोककर बीचमें अपना फल भुगता देते हैं। उदाहरणरूपमें किसीके प्रारब्धमें पुत्र प्राप्तिका संयोग नहीं है; पर वह विधिपूर्वक 'पुत्रेष्टि यज्ञ' का अनुष्ठान करनेपर नवीन प्रारब्ध निर्माणके द्वारा पुत्र प्राप्त कर सकता है। ऐसे बहुत से उदाहरण प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं। इसी प्रकार किसीके प्रारब्धमें अमुक समय मृत्युका योग है; पर 'मृत्युंजय' आदि अनुष्ठान करनेपर वह अल्पायु मनुष्य 'दीर्घ-जीवन' का सविधि लाभ कर सका है। मार्कण्डेयजीका भगवान् शंकरकी उपासनाके फलस्वरूप अमरत्व प्राप्त करना प्रसिद्ध ही है। इसीलिये हमारे शास्त्रों में 'सकाम उपासना' का विस्तृत उल्लेख है ।

यद्यपि सकाम उपासना बुद्धिमानी नहीं है; क्योंकि सके द्वारा प्राप्त होनेवाला फल अनित्य, अपूर्ण और दुःखप्रद ही होता है, तथापि सात्त्विक सकाम उपासनासे भी उपासनाके स्वरूपानुसार न्यूनाधिक रूपमें अन्तःकरणकी

शुद्धि होती है, जिसका फल अन्तमें निष्कामताकी प्राप्ति होता है। भगवान्की उपासना तो किसी भी भावसे की जाय, अन्तमें भगवान्को प्राप्त करानेवाली होती है। भगवान् ने स्वयं अपने 'अर्थार्थी' और 'आर्त' भक्तोंको भी 'उदार' बतलाते हुए अन्तमें उनको अपनी प्राप्ति होनेकी घोषणा की है। **'उदारा: सर्व एवैते'** और **'मद्भक्ता यान्ति मामपि'(गीता)।** अतएव सकाम देवाराधन और भगवदाराधन बुद्धिमानी न होते हुए भी लोकमें समृद्धि, सुख और अन्तमें क्रमानुसार भगवत्प्राप्तिमें हेतु होनेके कारण अकर्तव्य नहीं है; पाप तो है ही नहीं।

अवश्य ही 'तामस देवताओं' और 'तामस तत्त्वों' की उपासना कभी नहीं करनी चाहिये और न ऐसी कोई उपासना-आराधना करनी चाहिये जिसमें दूसरेके अहितकी कामना हो ।' 'तामस उपासना' और 'पर-अहितकी कामना' से की गयी उपासना – दोनों ही अन्तःकरणकी अशुद्धिमें हेतु और बार-बार आसुरी योनि, दुःख और अधोगतिकी प्राप्तिमें ही कारण होते हैं ।

सकाम अनुष्ठानों के सम्बन्ध में यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि वे सबको समानरूपसे फल देंगे ही या तत्काल ही फल दे देंगे । तत्काल फल न हो तो बार-बार उनका प्रयोग करना चाहिये । एक ही दवा एक रोगीको तत्काल लाभ पहुँचाती है, दूसरेको देरसे पहुँचाती है और किसीको उससे कुछ भी लाभ नहीं होता। इसी प्रकार देवाराधन भी प्रारब्धकी सहज, कठिन या अत्यन्त प्रबल प्रतिबन्धकताके अनुसार कोई तुरंत नवीन प्रारब्ध बनकर फल दे देता है, कोई देरसे और कोई बहुत देरसे फल देता है एवं कोई नहीं भी देता। पूर्वनिर्मित प्रारब्धकी निर्बलता या प्रबलता ही इसमें प्रधान कारण है। परंतु दवाका अनुचित प्रयोग होनेपर उससे या आजकलकी विज्ञापनी विषाक्त दवाइयोंकी प्रतिक्रियाके रूपमें विपरीत परिणाम भी हो जाता है। रोग बढ़ जाता है और कहीं-कहीं रोगी मर भी जाता है। पर सात्त्विक (जिसमें किसी अवैध तामसिक वस्तु या विधिका प्रयोग न हो तथा जो किसी भी दूसरेके लिये जरा भी हानिकारक न हो, ऐसे) देवाराधनमें

प्रतिक्रियारूपमें कोई भी हानि नहीं होती; वरं लाभ ही होता है।

एक प्रसिद्ध महात्मा हुए हैं, उन्होंने अर्थकी प्राप्तिके लिये गायत्रीके पूरे चौबीस पुरश्चरण किये । वे बार-बार पुरश्चरण करते, पर फल कुछ भी दिखायी नहीं देता; तथापि उनकी श्रद्धा नहीं घटी; न धीरज ही छूटा और न वे उकताये ही तथा पुरश्चरण करते ही रहे । जब चौबीस पुरश्चरण पूरे हो गये और कोई प्रत्यक्ष फल नहीं दिखायी दिया, तब भी उनकी गायत्रीदेवीपर तनिक भी अश्रद्धा नहीं हुई; क्योंकि वे परम आस्तिक और शास्त्रविश्वासी थे। दूसरी ओर गायत्रीपुरश्चरणोंके द्वारा पवित्र हुए उनके विशुद्ध हृदयमें वैराग्य उत्पन्न हो गया और सर्वत्याग करके वे संन्यासी हो गये । संन्यास सर्वत्यागमय होता है और यह यथार्थ सर्वत्याग एक 'महान् पुण्यकार्य' होता है। अतः संन्यास- ग्रहण करनेके पश्चात् गायत्रीदेवीने प्रकट होकर उनसे वर माँगनेके लिये अनुरोध किया। संन्यासी महात्माने कहा – 'माता! मैंने चौबीस पुरश्चरण श्रद्धा-विधिसहित किये, किंतु आपने दर्शन नहीं दिये । अब मेरे

संन्यास- ग्रहण करनेके पश्चात् आपके प्रकट होनेका क्या कारण है ?' गायत्रीदेवीने कहा – 'वत्स ! - तुम्हारे पचीस महापाप थे; चौबीस पुरश्चरणोंसे उनमें से चौबीस महापापोंका प्रायश्चित्त हो गया। एक पुरश्चरण और कर लेते तो प्रतिबन्धक हट जाता और मैं प्रकट हो जाती। पर तुमने वह नहीं किया | अब तुम्हारा यह सर्वत्यागरूप संन्यास महान् पुण्य कार्य होनेके कारण इसके फलस्वरूप पचीसवें महापातकका भी प्रायश्चित्त हो गया। अब तुम नवीन फल प्राप्त करनेके अधिकारी हो गये । इसीसे मैं अब प्रकट हो गयी ।' संन्यासी महात्माने कहा- 'माता ! अब तो मैं सर्वत्यागी संन्यासी हूँ। अब न मेरे मनमें कोई कामना है न मुझे कोई आवश्यकता ही। आपकी कृपा बनी रहे । आप पधारें ।'

इस कथासे यह सिद्ध होता है कि प्रतिबन्धककी प्रबलतासे देवाराधनका मनोवांछित फल तत्काल न मिलनेपर भी लाभ तो निश्चितरूपसे होता ही है। साथ ही आजकल दवाइयों में जान्तव पदार्थों तथा विषका प्रयोग होता है, उनके सेवनमें हिंसा

होती है तथा जहरतक खाया जाता है। व्यापार - नौकरी आदिमें असत्य, बेईमानी तथा पराये अहित-साधनका पाप होता है। देवाराधक इन पापोंसे तो बच ही जाता है। यह भी कम लाभ नहीं है। उसकी बुद्धि अहिंसायुक्त तथा जाग्रत् रहती है, जिससे पराया अनिष्ट या अहित करनेवाले विचारों तथा पापोंसे छुटकारा मिलता है। यह याद रखना चाहिये कि जिस किसी विचार या कार्यसे परिणाममें अपना तथा दूसरोंका अनिष्ट या अहित होता हो, वही 'पाप' है और जिससे परिणाममें अपना तथा दूसरोंका इष्ट या हित होता हो, वही 'पुण्य' है। यही पाप तथा पुण्यकी सार्वभौम यथार्थ परिभाषा है। जिससे परिणाममें दूसरोंका अहित होगा, उससे हमारा हित होगा ही नहीं और जिससे परिणाममें दूसरोंका हित होता होगा, उससे हमारा कभी अहित न होकर हित ही होगा - यह सुनिश्चित है।

कहीं-कहीं देवाराधनके सफल न होनेमें श्रद्धा और विधिकी न्यूनता या उसका अभाव भी प्रधान कारण होता है। श्रद्धाकी आवश्यकता तो प्रत्येक कार्यमें है। अश्रद्धासे किया गया

कार्य सिद्ध नहीं होता । भगवान् गीतामें कहते हैं

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् । असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥
(१७।२८)

'हे अर्जुन ! बिना श्रद्धाके किया हुआ हवन, दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ शुभ कर्म है - वह समस्त 'असत्' - इस प्रकार कहा जाता है, इसलिये वह न तो इस लोकमें लाभदायक है और न मरनेके बाद ही । '

- अतएव कोई भी देवाराधन या मन्त्र प्रयोग हो, अनुष्ठान करनेवालेमें उसके प्रति श्रद्धा - विश्वास अवश्य होना चाहिये। जिस देवता और जिस अनुष्ठान या आराधनमें श्रद्धा होगी, वही फलवान् होगा। किसी भी देवताकी आराधना कौतूहलनिवृत्ति या परीक्षाके लिये नहीं करनी चाहिये। परीक्षाके लिये की गयी आराधनासे तो देवताका अपमान होता है, जिसका फल

अनिष्ट भी हो सकता है।

श्रद्धा के साथ सकाम कर्ममें विधिकी भी परमावश्यकता है। जैसे अमुक-अमुक वस्तुओंके अमुक-अमुक निश्चित परिमाणमें मिलानेपर ही किसी अभीष्ट वस्तुका निर्माण होता है, वैसे ही अमुक-अमुक विधिका भलीभाँति पालन होनेपर ही देवताके द्वारा फलका निर्माण होता है। अतएव प्रत्येक अनुष्ठान यथासाध्य विधिवत् ही होना चाहिये।

देवानुष्ठानके समय तन-मन-वचनसे सदाचारका पालन करना चाहिये । अखण्ड ब्रह्मचर्यका (संतानप्राप्तिके अनुष्ठानमें वैध प्रसंगको छोड़कर) पालन अवश्य - अवश्य होना चाहिये। जपके साथ दशांश हवन, तर्पण, मार्जन और ब्राह्मणभोजन भी आवश्यक होता है। साथ ही इस बातका भी ध्यान रखना चाहिये कि किसी भी दूसरेके अनिष्ट या अहितका कोई भी कार्य मन-वाणी-शरीरसे न होने पाये।

किन्हीं ब्राह्मण या ब्राह्मणोंसे अनुष्ठान करवाया जाय तो यह ध्यान रखना आवश्यक है कि

ब्राह्मण सदाचारी हों, अनुष्ठानके समय वे ब्रह्मचर्यका पालन करें और जहाँतक बने, अनुष्ठानकालमें यजमानका ही अन्न ग्रहण करें। ब्राह्मणोंको सम्मानपूर्वक उचित दक्षिणा दी जानी चाहिये; उसमें सौदा या मोल-तोल नहीं करना चाहिये । उनका जी तो दुखाना ही नहीं चाहिये ।

किसी दूसरेका अनिष्ट चाहकर कोई भी अनुष्ठान कभी नहीं करना - कराना चाहिये; इससे परिणाममें बहुत बड़ी हानि होती है। अमुक कार्य सफल हो जानेपर देवताका अमुक कार्य किया जायगा या उसको अमुक चीज भेंट चढ़ायी जायगी अथवा अमुक देवस्थानकी यात्रा की जायगी - इस प्रकार मनौती मानना बहुत निम्न श्रेणीकी देवाराधना है। पहले सेवा करके तब फल माँगना या स्वीकार करना चाहिये । 'देवता हमारा अमुक काम कर देंगे, तब हम देवताकी सेवा- पूजा करेंगे - यह वृत्ति बहुत नीची है। इसमें देवतापर पूरे विश्वासका अभाव है। यद्यपि इसमें भी प्रयास होता है; अतः देवता स्वभाववश प्रायः नाराज नहीं होते; तथापि है तो यह अविश्वासपूर्ण 'व्यापार' ही ।

सच्ची बात तो यह है कि देवाराधन निष्काम प्रेमसे होना चाहिये। सेवा करके बदलेमें कुछ भी लेना सेवा नहीं कहलाता; बल्कि वह एक प्रकारका व्यापार हो जाता है । प्रह्लादने भगवान् नृसिंहसे कहा था– 'जो सेवा करके बदलेमें कुछ ले लेता है, वह सेवक नहीं है, लेन-देन करनेवाला व्यापारी है'–
'न स भृत्यः स वै वणिक् ।' (श्रीमद्भा० ७ । १०।४)

पर जो सेवाके पहले ही फल चाहते हैं, वे तो कुशल व्यापारी भी नहीं; उन्हें तो निम्न श्रेणीके स्वार्थी ही कहना चाहिये ।

अन्तमें यही नम्र निवेदन है कि मानव जीवनका लक्ष्य 'भगवत्प्राप्ति' ही है। अन्य जितनी भी लोकपरलोककी वस्तुएँ या स्थितियाँ हैं - सभी अनित्य तथा परिणाम - दुःखद हैं। अतएव सकाम कर्मोंमें प्रवृत्त न होकर निष्काम कर्म, तत्त्वविचार, भगवत्सेवा, भगवत्प्रेम आदि पारमार्थिक साधनोंमें ही लगना चाहिये; उसीमें जीवनकी सार्थकता है। पर जो सकामभावका त्याग नहीं कर सकते, उनकी विविध

कामनाओंकी पूर्तिके लिये सकाम उपासनाका विधान है। सकामभाववाले लोग उन दैवी साधनोंका सेवन करके लाभ उठा सकते हैं ।